दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष आठवाँ
अंक चौथा

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

श्रावण
२४७८

परम चैतन्यरत्न!

तदेवैकं परं रत्नं सर्वशास्त्रमहोदधेः।
रमणीयेषु सर्वेषु तदेकं पुरतः स्थितम्॥४३॥

वह एक चैतन्यस्वरूप आत्मा ही समस्त शास्त्ररूपी महासागर का परम रत्न है, (अर्थात् उस चैतन्यरत्न की प्राप्ति के लिये ही सर्व शास्त्रों का अध्ययन किया जाता है,) सर्व रमणीय पदार्थों में वह चैतन्यस्वरूप आत्मा ही एक रमणीय तथा उत्कृष्ट है।

— पद्मनन्दि : एकत्वशिति अधिकार

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

८८

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

इस अंक के लेख

आत्मा की समझ
धार्मिकोत्सव प्रवचन
आत्मा के ज्ञानमात्र भाव में उछलती अनंत शक्तियाँ
स्वानुभूत्या चकासते
समयसार की टीका

सुवर्णपुरी-मानस्तंभ

सुवर्णपुरी (सोनगढ़) तीर्थधाम में ६२ फुट ऊँचा संगमरमर का मानस्तंभ तैयार हो रहा है; जिसके शिलारोपण का मंगल मुहूर्त ज्येष्ठ-कृष्णा सप्तमी को पूज्य श्री कानजी स्वामी के शुभहस्त से हुआ था। यह मानस्तंभ सौराष्ट्र की एक दर्शनीय वस्तु होगी। मानस्तंभ के नीचे वीतरागी संतों एवं भक्ति के विविध दृश्यों तथा सूत्रों से सुशोभित तीन पीठिकाएँ बनेंगी। ऊपर के भाग में चार और नीचे के भाग में चार —इसप्रकार कुल आठ प्रतिमाएँ श्री सीमंधर भगवान की विराजमान होंगी। आजकल पीठिकाओं का काम चल रहा है। मानस्तंभ-फंड एक लाख से ऊपर पहुँच चुका है।

आत्मधर्म

श्रावण २४७८ ❀ वर्ष आठवाँ ❀ अंक चौथा

आत्मा की समझ

देखो भाई! यह आत्मस्वभाव की बात सूक्ष्म लगे तो अधिक ध्यान देकर समझने योग्य है। आत्मा सूक्ष्म है तो उसकी बात भी सूक्ष्म ही होगी। जीव ने एक 'स्व' की समझ के अतिरिक्त दूसरा सब अनंतबार किया है। आत्मा की परम सत्य बात सर्वत्र सुनने को नहीं मिलती। कोई उपन्यास पढ़ते हैं, कोई धर्म के नाम पर कथा-कहानियाँ सुनाते हैं और बाह्यप्रवृत्ति बतलाते हैं; इसप्रकार बाह्यक्रिया से संतोष मानकर धर्म का स्वरूप भटे-भाजी जैसा सस्ता बना दिया है। आत्मस्वभाव की जो बात अनंतकाल में नहीं समझी, उसे समझने के लिये तुलनात्मक बुद्धि होना चाहिए। लौकिक बात और लोकोत्तर धर्म की बात बिलकुल भिन्न होती है। जल्दी समझ में न आये; इसलिये अस्वीकार मत करना। जो अपना स्वरूप है, वह इतना कठिन नहीं होता कि समझ में न आये। रुचिपूर्वक अभ्यास करे तो प्रत्येक जीव अपना आत्मस्वरूप समझ सकता है। मात्र सत् समझने का प्रेम होना चाहिए। श्री आचार्यदेव ने तो समयसार के प्रारम्भ में ही कहा है कि—मैं अपने और तुम्हारे आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करके यह तत्त्व बतलाता हूँ।

—समयसार-प्रवचन से

धार्मिकोत्सव-प्रवचन

[१]

[भाद्रपद कृष्णा १२ : समयसार गाथा २८२]

सत्श्रवण की दुर्लभता

देखो ! अनंतकाल में प्रथम तो मनुष्यभव मिलना दुर्लभ है, और उसमें भी आत्मा के स्वरूप का सच्चा श्रवण प्राप्त होना अनंतकाल में दुर्लभ है। आत्मस्वभाव के भान बिना अनादिकाल से जीव संसार की चार गतियों में परिभ्रमण करता है; जीव चारों गतियों में अनंत अवतार कर चुका है, किन्तु उसमें देव, नरक, और तिर्यंचगति के भव धारण करते हुए मनुष्यभव बहुत ही अल्प किये हैं। चारों गतियों के जीवों में मनुष्यों की संख्या अत्यल्प है और मनुष्यभव की प्राप्ति हो, ऐसे भाव करनेवाले जीव भी कम हैं। मनुष्यभव प्राप्त करके भी सत्श्रवण मिलना महान दुर्लभ है। सत्यतत्त्व के श्रवण बिना उसकी रुचि कहाँ से करे ? इसलिये, यह दुर्लभ मनुष्य अवतार और यथार्थ तत्त्व के श्रवण का योग प्राप्त करके आत्मा को समझ लेना चाहिए। आत्मा की दरकार किए बिना यदि नेत्र मुँद गये तो अनंतकाल तक ठिकाना नहीं पड़ेगा।

श्रेष्ठ, सूक्ष्म, उच्च और अपूर्व बात

इस समय आत्मस्वभाव की अत्यन्त श्रेष्ठ बात आई है। सूक्ष्म मालूम हो, तथापि यही बात समझने योग्य है। बाह्य की साधारण बात तो अनंत बार सुनी है किन्तु यह आत्मस्वभाव की उच्च बात कभी नहीं समझा। दया, दान आदि की बात तो सब करते हैं, वह कहीं अपूर्व नहीं है, वह तो जीव अनंत बार कर चुका है। दया, दान आदि से पुण्यबंध करके अनंतबार महान राजा हुआ और स्वर्ग का देव भी हुआ, किन्तु वास्तविक आत्मतत्त्व रागरहित चैतन्यमूर्ति है, उसके भान बिना कल्याण नहीं हुआ।

बंधन के नाश की और धर्म की रीति

आत्मा एक स्वतंत्र चैतन्यमूर्ति पदार्थ है; उसे पर्याय में विकार और कर्म आदि दूसरे तत्त्वों के साथ जो संयोग दिखलाई देता है, उसका क्या कारण ?—अपने स्वभाव से वस्तु में विकार-दुःख या संयोग नहीं होता। आत्मा के स्वभाव को न जानने से पुण्य-पाप को ही जो अपना स्वरूप मान रहा है—ऐसे अज्ञानी जीव को पर्याय में विकार और जड़ कर्म के साथ सम्बन्ध होता है। आत्मा के

अज्ञान के कारण अज्ञानी अनंतकाल से बंधन में पड़ा है; वह बंधन कैसे दूर हो ?—अपना स्वभाव शुद्ध चैतन्य है; विकार करने का अपना स्वभाव नहीं है—इसप्रकार यदि स्वभाव को समझ ले तो उस स्वभाव के आश्रय से बंधन का नाश होता है। प्रथम वस्तुस्वभाव को पहिचानना ही धर्म की रीति है।

संसार में जो वस्तु लेना हो, उस वस्तु को प्रथम पहिचान लेता है और उसकी भावताल जान लेता है। तब फिर जिसे आत्मा का धर्म करना हो, उसे प्रथम आत्मा को पहिचानना तो चाहिए न! आत्मा क्या वस्तु है और उसे धर्म कैसे होता है, वह जाने बिना कभी भी धर्म नहीं हो सकता।

अज्ञानी बँधता है, ज्ञानी नहीं बँधता

आत्मा का मूलस्वभाव तो स्वच्छ ज्ञाता-दृष्टा है; ऐसे स्वभाव की जिसे खबर नहीं है, उस अज्ञानी जीव को जो राग-द्वेष-मोहादि परिणाम हैं, वही बंध का कारण है। जो अपने शुद्धस्वभाव को जानता है, वह धर्मात्मा, रागादि परिणामों को कभी अपना नहीं बनाता, किन्तु उन रागादि को अपने स्वभाव से पृथक् ही जानता है; इसलिये उसे बंधन नहीं होता।

अपूर्व धर्मक्रिया

यथार्थ आत्मतत्त्व का निर्णय करना, वह अनंतकाल में नहीं की हुई ऐसी अपूर्व धर्मक्रिया है; इसके अतिरिक्त परजीव की दया, दान आदि शुभभाव की क्रिया कहीं अपूर्व नहीं है; ऐसा तो अज्ञानी भी अनंतबार कर चुका है। यहाँ तो जिससे अनंतबार के जन्म-मरण का अंत आ जाये, ऐसी अपूर्व धर्मक्रिया की बात है।

....क्या करना चाहिए ?

प्रथम तो अंतर में जिज्ञासु होकर इस बात का श्रवण करना चाहिए; ऐसी सत्य बात जहाँ सुनने को मिले वहाँ बारम्बार सत्समागम करना चाहिए। स्वाध्याय और चर्चा-विचारणा करके तत्त्व को निश्चित करना चाहिए। यथार्थ तत्त्व को निश्चित करना भी धर्म की क्रिया है।

कर्म के साथ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध की दृष्टि से अज्ञानी बँधता है, और ज्ञानी ने स्वभावदृष्टि के बल से निमित्त के साथ का सम्बन्ध तोड़ दिया है, इसलिये वह नहीं बँधता

आत्मा और कर्म दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं; जिसकी आत्मा पर दृष्टि है, उसकी दृष्टि में कर्म का अभाव है, और जिसकी कर्म पर दृष्टि है, उसकी दृष्टि में आत्मा का अभाव है। धर्मी को स्वभावदृष्टि में 'आत्मा' ही है, इसलिये उसके तो पुराना कर्म निमित्तरूप भी नहीं है। कर्म पर

जिसकी दृष्टि है, उसी को पुराना कर्म नवीन बंधन का निमित्त होता है। अज्ञानी की दृष्टि में 'आत्मा' नहीं है किन्तु कर्म ही है, इसलिये उसी को कर्म निमित्तरूप है। अंतर्दृष्टि के परिणमन में ज्ञानी को स्वभाव का ही उदय है और कर्म का उदय नहीं है;—अज्ञानी को कर्म का उदय है और स्वभाव का उदय नहीं है। धर्मी जीव गृहस्थपने में हो और अल्प राग-द्वेष होते हों, तथापि उनकी गणना स्वभावदृष्टि में की ही नहीं है। और अज्ञानी बाह्यत्यागी द्रव्यलिंगी होकर बैठा हो किन्तु अन्तर की गहराई में शुभविकल्प की रुचि भरी पड़ी हो, उसे तो प्रतिक्षण पुराना कर्म, नवीन बंधन का निमित्त हो रहा है।

पहले विकारभाव करने के निमित्त से जो कर्म बँधा, वह कर्म पुनः राग-द्वेष-मोह का निमित्त किसे होता है ?—जिसे शुद्ध आत्मा का विश्वास नहीं है और कर्म की ओर उन्मुखता है, ऐसे अज्ञानी को ही पूर्वकर्म पुनः राग-द्वेष-मोह का निमित्त होता है। धर्मी को तो स्वभावदृष्टि के परिणमन के कारण शुद्धता की ही वृद्धि होती रहती है, इसलिये उसे पूर्व का कर्म, नवीन बंधन का निमित्त नहीं होता। अस्थिरता का जो अल्प बंधन है, उसका स्वभावदृष्टि में स्वीकार नहीं है। अज्ञानी तो क्षणिक राग को ही अपना स्वरूप मान रहा है। स्वभाव की दृष्टि नहीं है, किन्तु निमित्त पर ही दृष्टि पड़ी है, इसलिये पराश्रय करने से राग-द्वेष-मोहादि भाव होते हैं, वही नवीन कर्मबंधन का कारण है, और वे नवीन कर्म उस अज्ञानी को पुनः उदय के समय भी मोहभाव में ही निमित्त होंगे; कदाचित् पुण्य बाँधकर भगवान के पास जायेगा तो वहाँ भी भगवान को वह सम्यग्ज्ञानादि का निमित्त नहीं बनाएगा, किन्तु निमित्ताधीन दृष्टि के कारण पूर्वकर्म के उदय को मिथ्यात्वादि का ही निमित्त बनाएगा। इसप्रकार जिसे चैतन्यपरमेश्वर की प्रतीति नहीं है और कर्म के निमित्त पर ही दृष्टि है, वैसे अज्ञानी को कर्म की परम्परा चलती ही रहती है। धर्मी जीव ने स्वभावदृष्टि के बल से अनादि के कर्म की परम्परा को तोड़ डाला है और निर्मल पर्याय की परम्परा आत्मा के साथ युक्त की है। दृष्टि पर धर्म-अधर्म का आधार है। धर्मी की दृष्टि स्व के ऊपर है, अधर्मी की दृष्टि पर के ऊपर है। स्व के ऊपर दृष्टि से धर्मी को धर्म की परम्परा चलती है और पर के ऊपर की दृष्टि से अधर्मी को कर्म की परम्परा चलती है; निमित्त पर दृष्टि होने से उसे जड़ कर्म के साथ का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बना ही रहता है। आत्मा के स्वभाव को कर्म के साथ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं है;—ऐसे द्रव्यस्वभाव को जाने बिना मिथ्याबुद्धि दूर नहीं होती। अज्ञानी की पर्यायबुद्धि से वर्तमान तो मिथ्यात्व है और भविष्य में भी कर्म के उदय के समय उसे पर्यायबुद्धि के कारण

मिथ्यात्व ही होगा; संयोग और विकारीभाव पर दृष्टि रखकर वह जहाँ-जहाँ जायेगा—समवशरण में साक्षात् भगवान के निकट जायेगा—तो वहाँ भी वह मिथ्याभाव को ही उत्पन्न करेगा। यहाँ तो बंधन सिद्ध करना है; इसलिये जो जीव पर्यायबुद्धि बनाए रखता है, उसकी यह बात है। कोई जीव भविष्य में स्वभाव को समझकर मिथ्यात्व को दूर करे, उसे यह बात लागू नहीं होती।

जन्म-मरण से थके हुए आत्मार्थी का उल्लास

यहाँ तो वर्तमान में दृष्टि-रुचि कहाँ पड़ी है, उसकी मुख्य बात है। अहो! सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जीव को वर्तमान में कदाचित् अल्प रागादि होते हों; तथापि उसे स्वभावदृष्टि के बल से बंधन होता ही नहीं। पर्याय में अल्प बंधन है किन्तु उसे पर्याय की बुद्धि नहीं है। देखो भाई! आत्मा का ऐसा स्वभाव सुनते हुए एक बार अंतर से आत्मा उछलना चाहिए.... आत्मा के लिये ऐसा उल्लास आना चाहिए कि अरे! सिद्धसमान मेरा स्वभाव, और मेरी अनभिज्ञता के कारण मुझे संसार रहे—ऐसा कैसे चल सकता है? अहो! अपना ऐसा स्वरूप मैंने अनादिकाल से नहीं सुना था... आज से लेकर सादि-अनंतकाल आत्मा के लिये व्यतीत करके भी अब मुझे अपना हित करना है!—इसप्रकार अंतर से उत्साह लाकर सत्समागम करना चाहिए और बारम्बार अंतर में परिचय करना चाहिए। यह बात तो जिसे आत्मा की दरकार हो और अनादि के जन्म-मरण की थकावट लगी हो, उसके लिये है।

विपरीत दृष्टि में मिथ्यात्व के निमित्तनैमित्तिक की परम्परा

स्वभाव से च्युत होकर संयोगदृष्टि के कारण ही संसार बना है। मिथ्यादृष्टि जीव कदाचित् पुण्य बाँधेगा और समवशरण में जायेगा तो वहाँ भी, भगवान जो निरालम्बी चैतन्यतत्त्व कहते हैं, उस पर दृष्टि नहीं करेगा किन्तु कर्म के उदय में दृष्टि रखकर पुनः मिथ्यात्व ही उत्पन्न करेगा। जो ऐसा मानता है कि पुण्य करते-करते धर्म होगा, जिसकी दृष्टि पुण्य और निमित्त पर पड़ी है, उसे पुण्य का उदय भविष्य में धर्म का निमित्त तो नहीं होगा, किन्तु मिथ्यात्व का ही निमित्त होगा। 'इससमय तो सम्यक्त्व के बिना व्यवहारचारित्र का पालन करना चाहिए, उससे पुण्य होगा, पुण्य से भगवान के पास जाएँगे और वहाँ जाकर सम्यक्त्व को प्राप्त करेंगे'—ऐसी जिसकी भावना है, वह मिथ्यादृष्टि है, वह भविष्य में पुण्य को भी मिथ्यात्व का निमित्त बनाएगा। देखो, यह बात समझने योग्य है। अज्ञानी को जड़ कर्म, मिथ्यात्वादि विकार कराते हैं—ऐसा नहीं है किन्तु उसकी दृष्टि विपरीत है, इसी से उसे कर्मों का उदय पुनः पुनः मिथ्यात्व का निमित्त होता है। भगवान की दिव्यवाणी में तो स्वाश्रय स्वभावदृष्टि का ही उपदेश आता है; किन्तु अज्ञानी की अपनी रुचि ही विपरीत है, वहाँ भगवान का

उपदेश क्या करे ? अज्ञानी तो भगवान के पास जाकर भी, भगवान को सम्यक्त्वादि का निमित्त नहीं बनाएगा किन्तु मिथ्यात्वभाव करके कर्म के उदय को मिथ्यात्व का निमित्त बनाएगा। इसप्रकार इस बंध अधिकार में अज्ञानी को ही बंधन माना है; अज्ञानी को विपरीत भाव में भविष्य में कर्म का निमित्तपना आयेगा, किन्तु सत्समागम का निमित्तपना उसे नहीं होगा। सत्समागम तो स्वोन्मुख होने को कहता है; जब स्वोन्मुख हो, तभी सत्समागम का निमित्त कहलाता है।

जैनधर्म की मूल नींव

अहो! स्वभावदृष्टि की यह बात आजकल लोगों को अत्यन्त महँगी हो गई है... किन्तु जैनधर्म की नींव ही यह है। ऐसी दृष्टि प्रगट किए बिना जितना करे, वह सब संसार का ही कारण होता है। इस दृष्टि के बिना मोक्षमार्ग के प्रारम्भ का अंश भी नहीं होता। साधु नामधारी भी यदि ऐसा कहे कि 'इससमय व्यवहारचारित्र से पुण्य बाँधकर पश्चात् भगवान के पास जाएँगे और वहाँ भगवान के निमित्त से निश्चयसम्यक्त्व प्राप्त करेंगे' तो उसमें एकदम विपरीत दृष्टि है, तत्त्व की बहुत विपरीत मान्यता है। आचार्यदेव कहते हैं कि अरे जीव! यदि तेरी दृष्टि ही निमित्त पर पड़ी है तो भविष्य में भी तुझे अपनी विपरीत दृष्टि के कारण कर्म-मिथ्यात्व का ही निमित्त होगा। इस निमित्ताधीन दृष्टि को छोड़ और चिदानंद निरपेक्ष स्वभाव की दृष्टि कर तो अनादि का बंधन दूर हो और धर्म हो। प्रथम निरपेक्ष स्वभाव की दृष्टि करना ही जैनधर्म की नींव है।

* * *

राग का अकारक आत्मस्वभाव

यह भगवान आत्मा स्वयं स्वभाव से विकार का कर्ता नहीं है; विकार का कर्तृत्व तो पर्यायबुद्धि में है; स्वभावदृष्टि से तो आत्मा, रागादि का अकर्ता ही है। ऐसे आत्मस्वभाव से च्युत होकर जो जीव मात्र वर्तमानपर्यंत के विकार को देखता है, वह अज्ञानी है। पर्यायबुद्धि को यहाँ 'आत्मा' ही नहीं माना है; क्योंकि राग वास्तव में आत्मा नहीं है, इसलिये जो भाव रागादिक का कर्ता हो, उस भाव को 'आत्मा' नहीं माना है किन्तु 'अनात्मा' माना है। आत्मोन्मुख होकर आत्मा के स्वभाव के साथ एकता करे, उसी को यहाँ 'आत्मा' माना है। त्रिकाली स्वभाव रागरहित है, उस स्वभाव की दृष्टि से तो आत्मा, राग का अकर्ता ही है।

शिष्य की समझने के लिये आतुरता

'आत्मा रागादिक का अकर्ता ही है'—यह बात शिष्य को रुचती है, इसलिये उसे बराबर समझने के लिये यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि प्रभो! आत्मा, रागादिक का ही अकारक किसप्रकार

है ? पर्याय में राग-द्वेष होते दिखलाई देते हैं, तथापि आत्मा को राग-द्वेष का अकर्ता आप कैसे कहते हैं ? प्रश्न में समझने की आतुरता है। शिष्य को इतनी बात तो जम गई है कि सारा आत्मा कहीं रागादिक का कर्ता नहीं है। यदि सम्पूर्ण आत्मा ही रागादिक का कर्ता हो तो उस रागादि का कर्तृत्व कभी टल ही नहीं सकता। सदैव राग ही करता रहूँ—ऐसा मेरा स्वरूप नहीं हो सकता। इसलिये प्रश्न उठा है कि हे नाथ! आपने आत्मा को रागादि का अकारक ही कहा है, सो किसप्रकार ?

अब तीन गाथाओं में आगम का प्रमाण देकर आचार्यदेव शिष्य का समाधान करते हैं :—

गाथा २८३-८४-८५

अप्रतिक्रमणं द्विविधगथव्याख्यान तथैव विज्ञेयम्।
एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता॥२८३॥
अणतिक्रमणं द्विविधं द्रव्यें भावे तथाप्रत्याख्यानाम्।
ऐतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता॥२८४॥
यावदप्रतिकमणमप्रत्याख्यानं च द्रव्यभावयोः।
करोत्यात्मा तावत्कर्ता स भवतिज्ञातव्यः॥२८५॥

'अणप्रतिक्रमण द्वयविध, अणपच्चखाण पण द्वयविध छे,
—आ रीतना उपदेशथी, वर्ण्यो अकारक जीवने॥२८३॥
अणप्रतिक्रमण वे-द्रव्यभावे, अेम अणपच्चखाण छे,
—आ रीतना उपदेशथी, वर्ण्यो अकारक जीवने॥२८४॥
अणप्रतिक्रमण वळी अेम, अणपच्चखाण द्रव्यनुं, भावनुं,
आत्मा करे छे त्यां लगी, कर्ता बने छे जाणवुं॥२८५॥

यह गाथाएँ अलौकिक हैं। 'चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा रागादिक का अकर्ता है'—यह बात आचार्यदेव ने पहले स्फटिकमणि का दृष्टान्त देकर युक्ति से तो सिद्ध कर दी है, और अब आगम का आधार देकर आचार्यदेव वह बात समझाते हैं। सर्वज्ञभगवान के आगम कैसे होते हैं और उन आगमों की आज्ञा क्या है, वह बात भी इसमें आ जाती है।

आगम की आज्ञा है कि 'तू स्वभाव का आश्रय कर, और निमित्त का आश्रय छोड़!'—उससे यह स्पष्ट होता है कि विकार करने का तेरा स्वभाव नहीं है।

'आत्मा अपने से रागादिक का अकारक ही है; क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो अप्रतिक्रमण

और अप्रत्याख्यान के द्विविधपने का उपदेश नहीं बन सकता....'

रागादिभाव निमित्त के आश्रय से ही होते हैं, किन्तु स्वभाव के आश्रय से नहीं होते, इसलिये स्वभाव से आत्मा, रागादिभाव का कर्ता नहीं है। यदि रागादिभाव करने का आत्मा का स्वभाव हो तो वह कभी रागरहित हो ही नहीं सकता। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की और नवतत्त्वों की श्रद्धा, ग्यारह अंग का ज्ञान और पंचमहाव्रत का पालन—ऐसा जो व्यवहाररत्नत्रय का शुभराग है, वह भी पर के ही अवलम्बन से होता है; वस्तुस्वभाव से देखने पर आत्मा उस व्यवहाररत्नत्रय के राग का भी अकर्ता ही है। देखो तो! प्रत्येक का आत्मा ऐसा है, प्रत्येक आत्मा अंतर में सदा स्वतंत्र चैतन्यप्रभु विराजमान है;—ऐसा निश्चय करके ऐसे अपने आत्मा की दृष्टि करना, सो सम्यग्दर्शन है, और वही अपूर्व कल्याण का उपाय है। 'निमित्त का आश्रय छोड़, विकार छोड़'—ऐसी आगम की आज्ञा है, वह ऐसा घोषित करती है कि विकार करने का आत्मा का स्वभाव नहीं है। आगम का आदेश है कि—तू निमित्त का आश्रय छोड़ और आत्मा का आश्रय कर! किसी भी निमित्त के आश्रय से लाभ होता है—ऐसा भगवान के आगम का आदेश नहीं है। जो भी पर के आश्रय से लाभ होना बतलाते हैं, वे कोई भी देव, गुरु या शास्त्र सच्चे नहीं हैं।

अंतरस्वभाव का अवलोकन

जीवों ने कभी अपने अंतरस्वभाव का अवलोकन करने की दरकार नहीं की है। बाह्य में कुछ नवीन देखे तो वहाँ आश्चर्य मालूम होता है, किन्तु अंतर में स्वयं परमेश्वर शक्ति का पिण्ड है, उसकी महिमा लाकर कभी अंतर्मुखदृष्टि नहीं की है। जिसप्रकार घर में मूल्यवान आभूषण आयें तो उसे देखने के लिये सब लोग कैसे उत्साह से एकत्रित होते हैं! उसीप्रकार वास्तव में तो ऐसे आत्मा के स्वभाव को देखने के लिये सबको एकत्रित होना चाहिए। श्रीमद् ने भी कहा है कि 'अन्तर्मुख अवलोकतां, विलय थतां नहि वार'—यह संसार अनादिकाल से है, यदि अन्तर्मुख होकर शुद्ध आत्मा का अवलोकन करे तो क्षण में उसका नाश हो जाता है।

समयसार में आत्मा का स्वभाव बतलाते हुए आचार्य भगवान कहते हैं कि आत्मा, रागादिक विकार का अकर्ता ही है; क्योंकि यदि आत्मा स्वयं स्वभाव से विकार का कर्ता हो तो निमित्त के आश्रय को और विकार को छोड़ने का आगम का जो आदेश है, उसमें विरोध आता है।—किसप्रकार? वह विशेष कहेंगे।

आत्मा के ज्ञानमात्रभाव में उछलती अनन्त शक्तियाँ

[पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन]

[वीर सं० २४७५ कार्तिक शुक्ला ३]

आत्मा में ज्ञानादि अनंतधर्म है; उन्हें परद्रव्यों और परभावों से भिन्न बतलाने के लिये आचार्यदेव 'ज्ञानमात्र' कहते आये हैं। वहाँ ज्ञानलक्षण द्वारा अनंतधर्मवाला आत्मा ही प्रसिद्ध होता है। इसलिये ज्ञानमात्र आत्मा को अनेकान्तपना है—यह बात सिद्ध की।

अब, आचार्यदेव उस अनंतधर्मवाले आत्मा की कुछ शक्तियों का वर्णन करना चाहते हैं, इसलिये उसकी भूमिकारूप से प्रथम शिष्य के मुख में प्रश्न रखते हैं और उसका उत्तर देते हुए 'ज्ञानमात्र आत्मा में अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं'—ऐसा सिद्ध करके फिर ४७ शक्तियों का अद्भुत वर्णन करेंगे।

***

प्रश्न—जिसमें क्रम और अक्रमरूप से प्रवर्तमान अनंतधर्म हैं, ऐसे आत्मा को ज्ञानमात्रपना किसप्रकार है? शिष्य अभेद आत्मा को लक्ष में लेना चाहता है, इसलिये ऐसा पूछता है कि प्रभो! आत्मा में अनंतधर्म होने पर भी उसे ज्ञानमात्रपना किसप्रकार है? शरीरादि पर का और दया-हिंसादिक विकारी भावों का तो आत्मा के स्वभाव में अभाव है; आत्मा में अपने अनंतधर्म हैं;—इतना लक्ष में लेकर शिष्य पूछता है कि पर्याय अपेक्षा से क्रमरूप प्रवर्तमान और गुण अपेक्षा से एक साथ—अक्रम प्रवर्तमान ऐसे अनंतधर्म आत्मा में विद्यमान हैं, तथापि उसे ज्ञानमात्रपना किस प्रकार है? एक ज्ञानमात्र भाव में अनंतधर्म कैसे समा जाते हैं?

उत्तर—परस्पर भिन्न ऐसे अनंत धर्मों के समुदायरूप परिणमित जो एक ज्ञप्तिमात्र भाव है, वह आत्मा ही है; इसलिये ज्ञानमात्र एक भाव में जिनका समावेश हो जाता है—ऐसी अनंत शक्तियाँ आत्मा में उछलती हैं। यहाँ आचार्यदेव अनंत धर्मों के परिणमन का ज्ञानमात्र भाव के परिणमन में समावेश करके, ज्ञान और आत्मा को अभेद बतलाते हैं।

आत्मा में अनंत गुण हैं, वे परस्पर भिन्न हैं। जिसप्रकार आत्मा कभी जड़रूप नहीं होता

उसीप्रकार आत्मा का ज्ञानगुण कभी दर्शनगुणरूप नहीं होता; कोई भी गुण किसी दूसरे गुणरूप नहीं हो जाता। जिसप्रकार एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का अभाव है, उसीप्रकार एक द्रव्य के अनंत गुणों में भी एक गुण में दूसरे गुण का अभाव है। आत्मद्रव्य तो पर से त्रिकाल स्वतंत्र है और उसका प्रत्येक गुण भी दूसरे गुण से स्वतंत्र है। इसप्रकार अनंत गुण परस्पर भिन्न हैं; गुणों की अपेक्षा अनंतता और द्रव्यरूप से एकता—ऐसा अनेकांत भी इसमें आ गया।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से भिन्न; द्रव्य के अनंत गुणों में प्रत्येक गुण परस्पर भिन्न; और उस प्रत्येक गुण की प्रति समय की पर्यायें भी भिन्न-भिन्न स्वतंत्र हैं। अनंत गुणों की पर्यायें एकसाथ हैं परन्तु उनमें से किसी एक गुण की पर्याय की दूसरे गुण की पर्याय के साथ एकता नहीं होती; और एक ही गुण की क्रमशः होनेवाली पर्यायों में भी एक समय की पर्याय, पूर्व समय की पर्यायरूप नहीं होती, और न पीछे की पर्यायरूप भी होती है। इसप्रकार प्रत्येक गुण की प्रत्येक पर्याय स्वतंत्र है। गुण परस्पर भिन्न हैं और पर्यायें भी परस्पर भिन्न हैं। एक गुण के कारण दूसरे गुण की अवस्था नहीं होती। वीर्यगुण की पुरुषार्थ पर्याय के कारण ज्ञान की अवस्था नहीं होती और न ज्ञान के कारण पुरुषार्थ की अवस्था होती है। पुरुषार्थ की अवस्था वीर्यगुण से होती है और ज्ञान की अवस्था ज्ञानगुण से होती है। प्रत्येक गुण की अवस्था में अपना स्वतंत्र सामर्थ्य है, इसलिये प्रत्येक पर्याय स्वयं अपने सामर्थ्य से ही अपनी रचना करती है। अहो! पर्याय का कारण पर तो नहीं है और द्रव्य-गुण भी नहीं है, पर्याय स्वयं ही अपना कारण है। एक ही समय में स्वयं ही कारण और कार्य है; इसलिये वास्तव में तो कारण-कार्य के भेद करना, वह व्यवहार है। प्रत्येक द्रव्य अपने रूप से सत्, प्रत्येक गुण अपने रूप से सत् और एक-एक समय की प्रत्येक पर्याय भी अपने अपने स्वरूप से सत् है।—बस! है उसीप्रकार जान लेना है, उसमें कारण-कार्य के भेद का विकल्प ही कहाँ है?

देखो! सम्यक्दर्शन की निर्मल पर्याय अनादिकाल में नहीं थी और वह अपूर्व दशा प्रगट हुई; वहाँ उसका कारण किसे कहोगे? यदि त्रिकाली द्रव्य-गुण को उसका कारण कहें तो, वे तो सम्यक्दर्शन प्रगट होने से पूर्व भी थे! पूर्व पर्याय को कारण कहें तो, पूर्व पर्याय में तो अनादि का मिथ्यात्व था—उसे कारण कैसे कहा जा सकता है? त्रिकाली द्रव्य-गुण की ओर उन्मुखता की, तब सम्यग्दर्शन की निर्मल पर्याय हुई, इसलिये द्रव्य-गुण की उन्मुखता कारण और जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई, वह कार्य—ऐसा कहें तो, वहाँ द्रव्य-गुण की ओर उन्मुखता करनेवाली पर्याय और निर्मल हुई वह पर्याय—यह दोनों कहीं भिन्न-भिन्न पर्यायें नहीं हैं, एक ही पर्याय है, इसलिये

कारण-कार्य अभेद हो जाते हैं अर्थात् कारण-कार्य के भेद उड़ जाते हैं, और प्रत्येक पर्याय की निरपेक्षता सिद्ध हो जाती है। ज्ञान की पर्याय स्वतंत्र और पुरुषार्थ की पर्याय स्वतंत्र; मोक्षमार्गरूप पर्याय स्वतंत्र और मोक्षपर्याय भी स्वतंत्र। अहो! देखो, इसमें मात्र निरपेक्ष वीतरागभाव ही आता है। 'ऐसा क्यों?' अथवा 'इसका कारण क्या?'—ऐसे विकल्प को अवकाश नहीं रहता; मात्र ज्ञातापना ही रहता है।

आत्मा ज्ञानमात्र ही है। ज्ञान क्या करता है?—मात्र जैसा हो, वैसा जानता है। जानने के कार्य में तो शांति ही होती है। जानने में आकुलता क्यों होगी?—नहीं होगी। यदि पर में हाँ या ना करे तो राग-द्वेष हो और ज्ञान की स्थिरतारूप शांति न रह सके। मैं तो ज्ञान हूँ, इसलिये जानने के अतिरिक्त मुझे पर को अपना नहीं मानना है और 'ऐसा क्यों'—ऐसा राग-द्वेष विकल्प भी नहीं करना है;—ऐसा निर्णय करके ज्ञानमात्र भावरूप परिणमित होने में भी आत्मा की अनंत शक्तियाँ उसमें साथ ही हैं। ज्ञान के साथ सुख है, स्वच्छता है, प्रभुता है, जीवन है—ऐसी अनंत शक्तियाँ ज्ञानमात्र भाव में साथ ही रहती हैं।

आत्मा में अनंत गुण हैं, उस प्रत्येक का लक्षण भिन्न-भिन्न हैं; परन्तु आत्मा के ज्ञानमात्र भाव में वे सब आ जाते हैं। अनंत गुणों से अभेद आत्मा को दृष्टि में लिया, वहाँ अनंती शक्तियाँ एकसाथ निर्मल स्वरूप में परिणमित होने लगती हैं। जहाँ ज्ञान अभेद आत्मा को लक्ष में लेकर परिणमित हुआ, वहाँ उस ज्ञप्तिमात्र भाव के साथ अनंत शक्तियाँ भी निर्मलस्वरूप में उछलती हैं।

देखो, सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि—आलू के एक राई जितने टुकड़े में असंख्यात औदारिकशरीर हैं; उस प्रत्येक शरीर में अनंत जीव हैं; वे सब जीव भिन्न भिन्न स्वतंत्र हैं; उनमें से प्रत्येक जीव में अपनी अनंत शक्तियाँ हैं; वे शक्तियाँ भी एक-दूसरे से परस्पर भिन्न हैं और प्रत्येक शक्ति को क्रमशः होनेवाली अनंत पर्यायें हैं; वह प्रत्येक पर्याय भी भिन्न-भिन्न स्वतंत्र है; और प्रत्येक पर्याय में अनंत अविभागप्रतिच्छेद अंश हैं; वह एक अंश दूसरे अंशरूप नहीं है।—वस्तुस्वभाव की ऐसी स्वतंत्रता जैनदर्शन बतलाता है। सब अनेकान्तस्वरूप है। द्रव्य में अनेकान्त, गुण में अनेकान्त, पर्याय में अनेकान्त और उसके प्रत्येक अविभागप्रतिच्छेद अंश में भी 'स्व-रूप से है और पररूप से नहीं है'—ऐसा अनेकान्त है। प्रत्येक जीव अनंत धर्म की मूर्ति है। अनंत गुण-पर्यायें होने पर भी वस्तुरूप से वह सब एक ही द्रव्य है। अहो! प्रत्येक आत्मा एक ही समय में अनंत गुणों के भिन्न-भिन्न परिणमन से भरा है, तथापि उन अनंत गुणों के परिणमन में कालभेद नहीं

है। आत्मा के परिणमन में समस्त गुणों का परिणमन साथ ही है। 'परस्पर भिन्न' कहकर अनेकपना सिद्ध किया और 'अनंत धर्मों के समुदायरूप परिणमित एक ज्ञप्तिमात्र भाव वह आत्मा है'—ऐसा कहकर ज्ञानमात्र आत्मा में अनंत धर्मों को अभेद कर दिया। [यहाँ 'गुण' और 'धर्म' दोनों शब्द एकार्थवाची हैं।]

द्रव्य स्वयं अनंत गुणों से एकसाथ परिणमित हो रहा है। अनंतगुणों में गुणभेद से भेद होने पर भी द्रव्य से वे अभेद हैं; गुणों को परस्पर लक्षणभेद हैं परन्तु प्रदेशभेद नहीं है; परिणमन का काल भेद नहीं है; एक ही समय में ज्ञानमात्र भाव के भीतर समस्त गुण एकसाथ परिणमित होते हैं। यहाँ ज्ञानमात्र भाव कहने से मात्र ज्ञानगुण की पर्याय नहीं समझना चाहिए, परन्तु अनंतगुण के पिण्डरूप आत्मा की पर्याय समझना चाहिए; क्योंकि आत्मा को ही 'ज्ञानमात्र' कहा है। आत्मा की एक ज्ञानक्रिया में अनंत धर्मों का समावेश हो जाता है, इसलिये आत्मा को ज्ञानमात्रपना ही है; अनंत धर्म होने पर भी आत्मा को ज्ञानमात्रपना ही है—यह बात यहाँ आचार्यदेव सिद्ध करते हैं। अनंत धर्मों को सिद्ध करके उन्हें एक ज्ञानमात्र भाव में समा दिया और आत्मा का ज्ञानमात्रपना बना रखा।—इतनी स्पष्टता करके अब उस ज्ञानमात्र भाव में आ जानेवाली शक्तियों का वर्णन करेंगे।

आत्मा में पर्यायें क्रमशः होती हैं और गुण एकसाथ हैं। 'पर्यायें क्रमशः होती हैं' उसका अर्थ ऐसा नहीं समझना चाहिए कि प्रथम एक गुण की पर्याय होती है और फिर दूसरे गुण की पर्याय होती है।—क्योंकि यदि ऐसा हो तो, अनंत गुण होने से, एक गुण की पर्याय होने का समय अनंतकाल में आयेगा। समस्त गुणों का परिणमन तो एकसाथ होता है, उसमें कहीं क्रम नहीं है, परन्तु उनकी पर्यायें एक के बाद एक—क्रमानुसार होती हैं, एकसाथ दो अवस्थाएँ नहीं होती। अनंतगुणों की अवस्था एकसाथ है, परन्तु एक गुण की दो पर्यायें एकसाथ नहीं होती। जैसे कि—श्रद्धागुण की पर्याय में मिथ्यात्व के समय सम्यक्त्व नहीं होता, सम्यक्त्व के समय मिथ्यात्व नहीं होता; मतिज्ञान के समय केवलज्ञान नहीं होता, सिद्धदशा के समय संसारदशा नहीं होती;—इसप्रकार अवस्था में क्रम है और ज्ञान, दर्शन, चारित्र, अस्तित्व, प्रभुत्व आदि समस्त गुण अक्रम है।—ऐसे क्रम और अक्रमरूप प्रवर्तमान अनंत धर्म आत्मा में हैं।

प्रवचनसार के परिशिष्ट में ४७ नयों द्वारा आत्मा के धर्मों का वर्णन किया है; और यहाँ आत्मा की ४७ शक्तियों का वर्णन किया है। उसमें अन्तर इतना है कि प्रवचनसार में तो ज्ञानप्रधान वर्णन होने से वहाँ विकार को भी आत्मा का धर्म माना है, क्योंकि वह भी आत्मा की पर्याय है; उस

विकारी पर्याय को आत्मा एकसमयपर्यंत धारण कर रखता है; और यहाँ शक्तियों के वर्णन में अभेददृष्टि प्रधान कथन होने से समस्त शुद्ध शक्तियों को ही लिया है; विकार को आत्मा का धर्म नहीं माना।

जैनधर्म के नाम से 'अनेकान्त...अनेकान्त' तो अनेक लोग करते हैं, परन्तु अनेकान्त में कितना गूढ़ रहस्य है, वह इस परिशिष्ट में आचार्यदेव ने स्पष्ट किया है। आत्मा में अनंत गुण हैं, उनमें एक गुण में दूसरे गुण की नास्ति है। गुणों के क्षेत्रभेद नहीं है परन्तु लक्षणभेद है—इस प्रकार अनेकान्त है। ज्ञान के अतिरिक्त श्रद्धादि अनंत शक्तियाँ हैं, वे ज्ञान से गुणभेद से भिन्न हैं, परन्तु ज्ञानमात्र आत्मा में तो समस्त शक्तियाँ अभेदरूप से आ जाती हैं। ज्ञान ज्ञानरूप है और श्रद्धारूप से नहीं है, श्रद्धा श्रद्धारूप है और ज्ञानरूप से नहीं है; इसप्रकार प्रत्येक गुण स्व-रूप से हैं और पररूप से नहीं है।—ऐसा गुणभेद होने पर भी आत्मा वस्तुरूप से एकरूप है। प्रत्येक वस्तु में अनंत अस्ति-नास्ति घटित होते हैं। वस्तु के अनंत गुणों में प्रत्येक गुण दूसरे अनंत गुणोंरूप नहीं है; एक की अस्ति में दूसरे अनंत की नास्ति है। इसीप्रकार प्रत्येक पर्याय में भी अपनेरूप से अस्ति और दूसरी अनंत पर्यायोंरूप से नास्ति—ऐसा अनेकान्त है। एक पर्याय के अनंत अविभाग अंशों में से प्रत्येक अविभाग अंश में भी इसीप्रकर अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त है।

आत्मा एकसमय में अनंत गुणों से परिपूर्ण है; वस्तु में समस्त गुण एकसाथ विद्यमान हैं, तथापि कोई गुण कभी दूसरे गुणरूप नहीं हो जाता। यदि एक गुण दूसरे गुणरूप हो जाये तो दूसरा तीसरेरूप हो जायेगा - ऐसा करते-करते अनन्त गुण सब एक ही गुणरूप हो जायेंगे; इसलिये एक गुण स्वयं ही पूर्ण द्रव्य हो जायेगा, और गुण का अभाव हो जायेगा। गुण के बिना द्रव्य का ही अभाव हो जायेगा। इसीप्रकार प्रत्येक पर्याय और पर्याय का छोटे से छोटा अंश भी यदि पररूप हो जाये तो अन्त में द्रव्य का ही अभाव हो जायेगा। कोई पदार्थ 'है'—ऐसा कहते ही, वह 'पररूप' नहीं है—ऐसा यदि न मानें तो उस वस्तु का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होगा।

अनेकान्त तो विश्व का प्रकाशक है; वह ऐसा प्रगट करता है कि विश्व में प्रत्येक पदार्थ स्व-रूप से है और पररूप से नहीं है। पदार्थ की शक्ति का यदि छोटे से छोटा अंश लें तो वह अंश भी अपनेरूप से है और अपने अतिरिक्त दूसरे अनंत अंशोंरूप वह नहीं है—ऐसा उसका अनेकान्तस्वरूप है। सब अनेकान्त है अर्थात् जो है वह स्व-रूप से है और पररूप से नहीं है,—इस सिद्धांत पर तो सारी सृष्टि का चक्र चल रहा है।

जिसमें परस्पर भिन्न अनंतधर्म हैं—ऐसे अभेद आत्मा को लक्ष में लेकर जहाँ ज्ञान परिणमित हुआ, वहाँ उस ज्ञप्तिमात्र भाव के साथ अनंत गुणों का परिणमन साथ ही है। ऐसी ज्ञप्तिक्रिया, वह आत्मा की निर्विकारी धर्मक्रिया है। आत्मा ज्ञप्तिमात्र भावरूप है और उस ज्ञाप्तिमात्र भाव में अनंत शक्तियों का परिणमन आ जाता है; इसलिये ज्ञानमात्र आत्मा में अनंतशक्तियाँ उछलती हैं। जहाँ पर्याय अन्तर में अभेद होकर परिणमित हुई, वहाँ उस ज्ञप्तिक्रियारूप से आत्मा ही परिणमित हुआ है; इसलिये वह आत्मा ही है; और उस ज्ञप्तिक्रिया में अनंतधर्मों का परिणमन साथ होने से, अनंतधर्मवाले आत्मा को ज्ञानमात्रपना ही है। ज्ञानमात्र भाव में ही अनंतशक्तियाँ उछल रही हैं —परिणमित हो रही हैं। अनंत सहभावी शक्तियों के बिना अकेला ज्ञान रह ही नहीं सकता।

अनंतशक्तियों से परिपूर्ण भगवान आत्मा किसप्रकार ज्ञात होता है ? वह बात आगे कही जा चुकी है कि ज्ञानलक्षण को अंतरोन्मुख करने से आत्मा लक्ष में आता है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से आत्मा ज्ञात नहीं हो सकता। शरीर की क्रिया से अथवा भक्ति-पूजा-उपवासादि शुभ क्रियाकाण्ड से ऐसा आत्मा ज्ञात नहीं हो सकता; परन्तु ज्ञान को अन्तर्मुख करनेरूप जो ज्ञप्तिक्रिया है, वही आत्मा को जानने की क्रिया है। इसके अतिरिक्त अन्य लाखों उपाय करे, लाखों-करोड़ों रुपयों का दान करे, अनेक तीर्थयात्राएँ करे, त्यागी होकर व्रतादि कर करके सूख जाए, तथापि उन बाह्य उपायों से यह चैतन्यभगवान आत्मा दर्शन नहीं देगा। अंतर में दृष्टि डालते ही कृतकृत्य कर दे—ऐसा चैतन्यभगवान है ! कितने वर्षों तक परसन्मुख देखता रहे तो स्व-सन्मुख देखना हो ?—परसन्मुख देखने से कभी भी स्व-सन्मुख देखना नहीं होता। ज्ञान-लक्षण को अंतर के लक्ष्य की ओर उन्मुख करके जहाँ चैतन्यमूर्ति आत्मा को लक्ष में लिया, वहाँ ज्ञप्तिक्रिया हुई; उस ज्ञप्तिक्रिया में अनंतगुणों को निर्मल परिणति साथ ही उछलने लगी ! राग के या निमित्त के लक्ष से शक्तियाँ निर्मल स्वरूप से नहीं उछलती-परिणमित नहीं होती। यहाँ आचार्यदेव मात्र शक्तियाँ ही नहीं बतलाते परन्तु शक्तियों का निर्मल परिणमन भी साथ में ले लेते हैं। 'शक्तियाँ उछलती हैं'—ऐसा कहकर शक्तियों को परिणमित बतलाया है।

द्रव्य का परिणमन होने से समस्त गुण परिणमित होते हैं; मूल द्रव्य का परिणमन होता है, वहाँ उसके समस्त गुण भी परिणमित हो जाते हैं; द्रव्य से गुण कहीं पृथक् नहीं हैं। अनंत गुणों से अभेद आत्मद्रव्य को लक्ष में लेकर जहाँ साधक जीव परिणमित हुआ, वहाँ उसके परिणमन में अनंत शक्तियाँ आत्मा में अभेद होकर परिणमित हुईं, उसी को यहाँ 'ज्ञानमात्र भाव' कहा है।

आत्मा के अनंत गुणों में लक्षणभेद है परन्तु क्षेत्रभेद या कालभेद नहीं है। ज्ञानगुण मस्तिष्क में रहता है और आनंदगुण हृदय में रहता है—इसप्रकार का कोई भेद नहीं है। आत्मा के असंख्य प्रदेशों में ही एकसाथ अनंतगुण विद्यमान हैं, गुणों का क्षेत्र भिन्न-भिन्न नहीं है। यहाँ तो ऐसा ही कहा है कि आत्मा के परिणमन में अनंत शक्तियाँ एकसाथ ही उछलती हैं, समस्त शक्तियाँ एकसाथ निर्मल स्वरूप से परिणमित होती हैं। गुणों के निर्मल परिणमन में न्यूनाधिकता है, वह बात यहाँ नहीं ली है। श्रद्धागुण में क्षायिकसम्यक्त्व का परिणमन हो जाये, तथापि चारित्रगुण की निर्मलता परिपूर्ण विकसित न हो—ऐसे गुणभेद को यहाँ मुख्य नहीं किया। अभेद द्रव्य के परिणमित होने से समस्त गुण निर्मलस्वरूप से परिणमित होते हैं—ऐसा यहाँ अभेद की मुख्यता से कहा है। अभेद द्रव्य की दृष्टि से साधक जीव परिणमित होता है, वहाँ सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान के साथ चारित्रादि समस्त गुणों का अंश भी साथ ही परिणमित होता है। यहाँ परिणमन कहने से समस्त निर्मल परिणामों को ही लेना है; विकार को तो आत्मा से पृथक् किया है। इसलिये विकारी परिणामों को आत्मा के परिणमन में नहीं लेना है। यहाँ तो द्रव्य-गुण और निर्मल परिणति को अभेद करके उतना ही आत्मा को माना है, भेद को या विकार को आत्मा नहीं माना है, उन्हें तो ज्ञानलक्षण के बल द्वारा आत्मा से पृथक् कर दिया है।

सम्यक्दर्शन होने से समस्त गुण एकसाथ पूर्ण विकसित नहीं हो जाते, इसलिये गुणभेद हैं; परन्तु वस्तुरूप से समस्त गुण अभेद हैं, इसलिये समस्त गुणों का अंश तो एक ही साथ विकसित हो जाता है। एक गुण बिलकुल शुद्ध हो जाये और दूसरे गुण में सर्वथा मलिनता रहे—अंशतः भी निर्मलता न हो, तब तो, गुण सर्वथा भेदरूप हो जायेंगे।—ऐसा नहीं होता। यहाँ तो कहा है कि ज्ञाप्तिमात्र भाव में समस्त गुणों का परिणमन एक साथ ही है; निर्मलता में हीनाधिकता के भेद पड़ते हैं—वह बात गौण है।

—इसप्रकार, अनंत शक्तिवाले आत्मा को 'ज्ञानमात्र' कहकर बतलाया; और उस ज्ञानमात्र भाव में अनंत शक्तियाँ साथ ही परिणमित हो रही हैं—ऐसा बतलाया। अब, आचार्यदेव उनमें से 'कुछ' शक्तियों का वर्णन करते हैं।—'कुछ' क्यों कहा? क्योंकि, छद्मस्थ जीव सामान्यरूप से तो जान सकता है कि आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं, परन्तु उन शक्तियों को विशेषरूप से भिन्न-भिन्न नहीं जान सकता; और वाणी द्वारा भी अनंत शक्तियों का वर्णन नहीं हो सकता; वाणी में तो असुक ही आती हैं; इसलिये यहाँ मुख्य प्रयोजनभूत ऐसी ४७ शक्तियों का वर्णन किया है।

उन ४७ शक्तियों का विवेचन करने से पूर्व उनके नाम दिए जा रहे हैं:—

१- जीवत्वशक्ति
२- चितिशक्ति
३- दृशिशक्ति
४- ज्ञानशक्ति
५- सुखशक्ति
६- वीर्यशक्ति
७- प्रभुत्वशक्ति
८- विभुत्वशक्ति
९- सर्वदर्शित्वशक्ति
१०- सर्वज्ञशक्ति
११- स्वच्छत्वशक्ति
१२- प्रकाशशक्ति
१३- असंकुचितविकासत्वशक्ति
१४- अकार्यकारणत्वशक्ति
१५- परिणम्यपरिणामकशक्ति
१६- त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति
१७- अगुरुलघुत्वशक्ति
१८- उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति
१९- परिणामशक्ति
२०- अमूर्तत्वशक्ति
२१- अकर्तृत्वशक्ति
२२- अभोक्तृत्वशक्ति
२३- निष्क्रियत्वशक्ति
२४- नियतप्रदेशत्वशक्ति
२५- स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति
२६- साधारण-असाधारण—
साधारणासाधारणधर्मशक्ति
२७- अनंतधर्मत्वशक्ति
२८- विरुद्धधर्मत्वशक्ति
२९- तत्त्वशक्ति
३०- अतत्त्वशक्ति
३१- अेकत्वशक्ति
३२- अनेकत्वशक्ति
३३- भावशक्ति
३४- अभावशक्ति
३५- भावाभावशक्ति
३६- अभावभावशक्ति
३७- भावभावशक्ति
३८- अभावाभावशक्ति
३९- भावशक्ति
४०- क्रियाशक्ति
४१- कर्मशक्ति
४२- कर्तृत्वशक्ति
४३- करणशक्ति
४४- संप्रदानशक्ति
४५- अपादानशक्ति
४६- अधिकरणशक्ति
४७- संबंधशक्ति।

अब क्रमशः इन शक्तियों के विवेचन दिये जायेंगे।

'स्वानुभूत्या चकासते'

आत्मा की धर्मक्रिया

श्री समयसार की टीका के मंगलाचरण में शुद्ध आत्मा को नमस्कार करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि—**'नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते'** समयसार अर्थात् शुद्ध आत्मा को नमस्कार हो! वह आत्मा अपनी ही अनुभवनरूप क्रिया से प्रकाशित होता है, अर्थात् अपने को अपने से ही जानता है—प्रगट करता है।

देखो! इसमें आत्मा की धर्मक्रिया की बात है। आत्मा किस क्रिया से प्रकाशित होता है? अपनी ही अनुभवनरूप क्रिया से आत्मा प्रगट होता है। व्यवहार, राग की क्रिया से या देह की क्रिया से आत्मा को धर्म होता है—यह मिथ्यादृष्टियों की मानी हुई बात है। विकार द्वारा या जड़ की क्रिया द्वारा आत्मा ज्ञात नहीं होता और न उसके द्वारा आत्मा का धर्म होता है। आत्मा के धर्म की क्रिया तो जड़ से और राग से पार है। शुद्ध आत्मा की स्वानुभूति ही आत्मा की धर्मक्रिया है। जड़ शरीर की क्रिया से तो आत्मा को धर्म या अधर्म नहीं होता, और पुण्य-पाप विकार की क्रिया है, उस क्रिया के द्वारा आत्मा का धर्म नहीं होता।

अज्ञानी जीव ने अनादिकाल से पैसे में और शरीर की क्रिया में तथा पुण्य में धर्म माना है—वह संसार में भ्रमण करने की क्रिया है, उसमें धर्म नहीं है। मैं शुद्ध चैतन्यसत्ता हूँ—ऐसी आत्मा के अनुभवरूप क्रिया से धर्म होता है, यही क्रिया मोक्ष का कारण है। ज्ञान को अंतरस्वभावोन्मुख करके एकाग्र करना, सो स्वानुभूति की क्रिया है; उस से आत्मा ज्ञात होता है। दयादि पुण्य की क्रिया से या शरीरादि जड़ की क्रिया से आत्मा ज्ञात नहीं होता। चैतन्यस्वभाव की रुचि और उसके आश्रय की अंतरज्ञानक्रिया से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है। इसप्रकार ज्ञानस्वभाव की एकाग्रता से ही धर्म होता है।

सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् भी जो व्रतादि के विकल्प होते हैं, वह राग है, वह वास्तव में आत्मा की धर्मक्रिया नहीं है। जहाँ व्रतादि के राग की रुचि है, वहाँ तो आत्मा प्रकाशित ही नहीं होता। व्रतादि आस्रवभाव है, वह बंधन का कारण है। व्रतादि की रुचिवाला जीव मिथ्यादृष्टि है; वह रुचि छूटकर ज्ञानस्वभाव की रुचि हो—उस क्रिया से आत्मा का प्रकाशित होता है—ज्ञात होता है। किसी निमित्त से या पुण्य-पाप से आत्मा ज्ञात नहीं होता; मिथ्याअभिप्राय रहित अंतर को स्वानुभूति से ही आत्मा ज्ञात होता है। पहले पर के ओर की रुचि थी, उसे बदलकर ज्ञानस्वभाव की रुचि की, वह रुचि पलटने की क्रिया हुई, उस क्रिया द्वारा आत्मा स्वयं अपने को जानता है। राग और पर की क्रिया रहित अंतरचैतन्यस्वभाव है, वह स्वयं ही अपने को जानता है, स्वयं ही अपने को प्रगट करता। है, स्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्ज्ञान की क्रिया का उत्पाद होता है।

देव-गुरु-शास्त्र आदि पर की ओर के लक्ष से कषाय की मंदता से शुभपरिणाम हों, वह पुण्य है, विकार है, इसलिये वह अधर्म है; उसे जो धर्म मानता है, वह अधर्मी है। धर्म तो अन्तरस्वभाव में एकाग्रतारूप स्वानुभूति की क्रिया से ही होता है। शुभराग हो, वह स्वानुभूति की क्रिया नहीं है और उससे आत्मा ज्ञात नहीं होता। अंतर में स्वाश्रित ज्ञान की एकाग्रतारूप स्वानुभूति से आत्मा स्वयं अपने को स्वज्ञेय करता है। यही सम्यग्दर्शन होने की रीति है।

शुद्ध आत्मा पर से ज्ञात हो वैसा नहीं है। उपदेशश्रवण भी परवस्तु है, उस श्रवण से आत्मा ज्ञात नहीं हो सकता; श्रवण के लक्ष से तो शुभराग होता है। जिस जीव में यथार्थ योग्यता और समझने की तैयारी हो, उसे सत्श्रवण का विकल्प तो उठता है, किन्तु वह समझता है कि यह जो विकल्प है, सो राग है, उस राग द्वारा आत्मा ज्ञात नहीं हो सकता; अंतर में ज्ञान से आत्मा ज्ञात होता है और सुनानेवाले सद्गुरु भी उसे ऐसा ही सुनाते हैं। स्वावलंबनरूप ज्ञान, ज्ञानस्वरूप में एकाग्रता करे-ऐसी क्रिया से धर्म और मुक्ति होती है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी क्रिया से धर्म या मुक्ति नहीं होती।

यहाँ मांगलिक में ही आचार्यदेव ने स्वानुभूति की बात करके आत्मा की प्रत्यक्षता बतलाई है। स्वानुभूति में आत्मा प्रत्यक्ष है। आत्मा को स्वयं अपनी खबर नहीं पड़ती—ऐसा माननेवाले जीव को धर्म का भान नहीं है। आत्मा सर्वथा परोक्ष नहीं है। आत्मा को सर्वथा परोक्ष माने अर्थात् मात्र पर के और राग के आश्रय से ही कार्य करता है, ऐसा माने तो वह जीव, धर्मी नहीं है। निचली दशा में साधक को परोक्ष ज्ञान भी भले हो, परन्तु स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव के स्वसंवेदन में तो प्रत्यक्ष

है। यदि स्वसंवेदनप्रत्यक्ष न हो और सर्वथा परोक्ष ही हो तो वह धर्मी नहीं है। साधक को भी स्वसंवेदन में आत्मा प्रत्यक्ष है, सर्वथा परोक्ष नहीं है। पर के आश्रय से कार्य करे, ऐसा ज्ञान का स्वभाव नहीं है; इसलिये केवलज्ञान होने से सम्पूर्ण प्रत्यक्षज्ञान विकसित हो जाता है और परोक्षज्ञान का अभाव हो जाता है। मिथ्याज्ञान में आत्मा परोक्ष है और सम्यग्ज्ञान अल्प विकसित होने पर सम्यक्ज्ञान में आत्मा प्रत्यक्ष है।

जो सर्वथा गुणगुणी भेद मानता है अर्थात् आत्मा और ज्ञान को सर्वथा पृथक् मानता है, वह ऐसा मानता है कि आत्मा का ज्ञान बाहर से आता है। आत्मा के अंतर के आश्रय से ज्ञान आता है—ऐसा न मानकर, पर निमित्त के आश्रय से-बाह्य से ज्ञान आता है—ऐसा जो मानता है, उसने गुणगुणी का सर्वथा भेद माना है। आत्मा अपनी स्वानुभूति से ही प्रकाशित होता है—ऐसा कहने में, गुणगुणी के सर्वथा भेद की मान्यता का खण्डन हो जाता है।

और, 'आत्मा की सम्यक्श्रद्धा होने से चारित्र और वीतरागता भी साथ ही प्रगट हो जाना चाहिए; सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् राग बिल्कुल नहीं होना चाहिए'—ऐसा कोई माने तो उसने गुणगुणी को सर्वथा अभेद माना है। आत्मा में श्रद्धा, ज्ञान, चारित्रादि अनंत गुण हैं और उनका कार्य कथंचित् भिन्न-भिन्न है, इसलिये सम्यक्श्रद्धा के पश्चात् चारित्र पूर्ण होने में बीच में अमुक काल लगता है। श्रद्धा में परिपूर्ण गुणी को पकड़ने से उसी क्षण समस्त गुणों की शुद्धता एकसाथ पूर्ण प्रगट हो जाना चाहिए—ऐसा जो माने, उसने वस्तु के कथंचित् गुण-गुणीभेद को नहीं जाना है, इसलिये उसने अनेकान्तमय आत्मस्वभाव को नहीं जाना है।

यहाँ प्रत्यक्ष-परोक्षपने में भी अनेकान्त है। आत्मा को सर्वथा परोक्ष ही माने तो पर का अवलम्बन छूटकर साधकदशा ही नहीं हो सकती। और आत्मा को सर्वथा प्रत्यक्ष ही माने तो छद्मस्थ को आत्मज्ञान ही सिद्ध न हो अर्थात् साधकदशा ही सिद्ध न हो। सर्वथा प्रत्यक्ष ज्ञान तो केवली के होता है। निचलीदशा में सम्यग्दृष्टि को आत्मा का ज्ञान होने से वह सर्वथा प्रत्यक्ष हो जाये—ऐसा नहीं है। सर्वथा प्रत्यक्ष तो केवलज्ञान में होता है, साधकपने में सर्वथा प्रत्यक्ष नहीं होता। साधकदशा में आत्मा कथंचित् प्रत्यक्ष होता है और कथंचित् परोक्ष भी होता है। स्वानुभूति की अपेक्षा से साधक को भी आत्मा प्रत्यक्ष है, किन्तु केवलज्ञानी की भाँति असंख्यप्रदेश प्रत्यक्ष दिखलाई नहीं देते। जिसने एकसाथ ही सर्वथा प्रत्यक्ष ज्ञान का हो जाना माना, किन्तु अंशतः प्रत्यक्ष के साथ परोक्षज्ञान भी होता है—ऐसा नहीं माना, उसने गुणगुणी भेद न मानकर गुणगुणी को सर्वथा

अभेद माना है। तथा साधक को अंशतः भी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता और सर्वथा परोक्ष ही होता है—ऐसा माने तो उसने गुणगुणी का सर्वथा भेद माना है।

अनादिकालीन मिथ्याज्ञान दूर होकर ज्ञान की अंतर की स्वानुभवक्रिया होने से उसी क्षण पूर्ण प्रत्यक्ष केवलज्ञान नहीं हो जाता, किन्तु स्वसंवेदन में आत्मा प्रत्यक्ष है, आनंद का अनुभव प्रत्यक्ष है। इसका नाम आत्मा की स्वानुभूति अर्थात् धर्म की क्रिया है। बाह्य से ज्ञान होता है—ऐसा मानना तो स्थूल मिथ्यात्व है।

बाह्य से तो आत्मा का ज्ञान नहीं होता, परन्तु अंतर में स्वानुभवज्ञान से आत्मा जानने पर उसी क्षण पूर्णज्ञान प्रगट हो जाता है—ऐसा भी नहीं है; उस ज्ञान में पूर्णस्वभाव ज्ञात हुआ है किन्तु अभी पूर्णता प्रगट नहीं हुई है। विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है, विकाररहित आत्मा का परिपूर्ण स्वभाव है; वह स्वभाव ज्ञान में ज्ञात होने के साथ ही सम्पूर्ण विकार नष्ट हो जाना चाहिए—ऐसा माननेवाला भी आत्मा के अनंतगुणों को नहीं जानता है, एक गुणवाला आत्मा मानकर एकान्ती हो रहे हैं। आत्मा को सभी पक्षों से यथावत् जाने बिना उसकी यथार्थ सम्यक्श्रद्धा नहीं होती; सम्यक्श्रद्धा के बिना स्वानुभूति नहीं होती और आत्मा प्रकाशित नहीं होता। आत्मा अपनी स्वानुभूति से चकासित होता है और वह स्वानुभूति आत्मा की पहिचान तथा श्रद्धा होती है।

'केवली भगवान की भाँति आत्मा के असंख्य प्रदेश और अनंतगुण प्रत्यक्ष ज्ञात हों, तभी सम्यग्ज्ञान हुआ कहलाता है, नहीं तो वहाँ तक मिथ्याज्ञान कहलाता है'—ऐसा माननेवाले को भी वस्तुस्वरूप का भान नहीं है। निचलीदशा में साधक धर्मात्मा को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से आत्मा का सम्यग्ज्ञान होने पर भी, उसी क्षण पूर्ण प्रत्यक्षज्ञान प्रगट नहीं होता; तथापि जैसा केवली भगवान ने आत्मा को जाना है, वैसा ही आत्मा स्वसंवेदनपूर्वक अनुमान से साधक के ज्ञान में आ गया है; इसलिये उसे भी सम्यग्ज्ञान हुआ है। श्रद्धा में पूर्ण आत्मा आ गया है, तथापि पर्याय में उसी क्षण पूर्ण प्रगट नहीं होता—ऐसा अनेकान्तस्वभाव है। श्रद्धा में पूर्ण परमेश्वर आया है, तथापि पर्याय में अभी पामरता है, ज्ञान में पूर्ण स्वभाव है, तथापि ज्ञान अभी पूर्ण परिणमित नहीं होता—वस्तुस्वरूप ही ऐसा अनेकान्तात्मक है। वस्तु को यथावत् ध्यान में लेकर निर्णय करेगा, तभी ज्ञान वस्तु के स्वभाव की ओर ढलेगा। वस्तुस्वरूप के यथार्थ निर्णय के बिना निर्विकल्पता नहीं होती।

साधकदशा में आत्मा स्वयं अपने को नहीं जान सकता; केवलज्ञान हो, तभी आत्मा ज्ञात होता है—ऐसा जो मानता है, वह साधकपने में आत्मा को सर्वथा परोक्ष ही मानता है; इसलिये वह

अज्ञानी है। साधकदशा में आत्मा को सर्वथा परोक्ष ही माने तो उसे आत्मा का स्वंसवेदनप्रत्यक्ष कहाँ से हो ?

और, साधक को आत्मज्ञान होने पर वहाँ पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान ही हो जाना चाहिए और परोक्षज्ञान बिलकुल नहीं होना चाहिए—इसप्रकार यदि साधकदशा में आत्मा को सर्वथा प्रत्यक्ष ही माने तो वह भी मिथ्या है; उसकी मान्यता में तो बारहवें गुणस्थान तक के समस्त जीव अज्ञानी सिद्ध होंगे; इसलिये साधकदशा का ही अभाव होगा; साधकदशा के अभाव में सिद्धदशा का भी अभाव सिद्ध होगा। साधक को स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के साथ परोक्षज्ञान भी भले हो, किन्तु उसकी श्रद्धा का बल तो स्वभावसन्मुख ही वर्तता है, उस श्रद्धा के बल से उसके ज्ञान में स्वसंवेदनप्रत्यक्ष बढ़ता जाता है और परोक्षपना कम होता जाता है। यदि परोक्षज्ञान को न माने तो साधकदशा ही सिद्ध नहीं होगी।

'साधक को स्वभाव के आश्रय से सम्यक् मति-श्रुतज्ञान प्रगट हुए, उसकी खबर नहीं पड़ती, किन्तु केवलज्ञान हो, तब उसकी खबर पड़ती है'—ऐसा माननेवाला भी अज्ञानी है; क्योंकि ज्ञान स्वयं अपने को नहीं जानता—ऐसा वह मानता है। निचलीदशा में प्रगट हुआ सम्यग्ज्ञान भी नि:सन्देहरूप से स्वयं अपने को जानता है। अल्पज्ञान में भी स्वसंवेदन से पूर्ण आत्मा को तथा अपने को (प्रगट हुए सम्यग्ज्ञान को) जानने की शक्ति है। अधिक ज्ञान होने के पश्चात् ही ज्ञान स्वयं अपने को जान सके-ऐसा नहीं है, परन्तु जहाँ ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ज्ञान की क्रिया हुई और सम्यग्ज्ञान विकसित हुआ, उसी क्षण ज्ञान स्वसंवेदन से स्वयं अपने को जानता है—ऐसा ज्ञानस्वभाव है। ऐसे स्वानुभूति से प्रकाशमान शुद्ध आत्मा को जानना, सो अपूर्व मांगलिक है। यही धर्म है। इसके अतिरिक्त अन्य किसीप्रकार से धर्म नहीं होता।

निचलीदशा में सम्यग्ज्ञान के साथ अल्प राग-द्वेष भी होते हैं, वह ज्ञान का अपराध नहीं है, किन्तु ज्ञानी जानता है कि वह अधर्म है; जितना रागरहित स्वाश्रय स्वसंवेदन हुआ, उतना ही धर्म है। कोई ऐसा कहे कि 'राग-द्वेष तो अधर्म है, इसलिये जहाँ राग-द्वेष हो, वहाँ धर्म का अंश भी नहीं होता'—तो ऐसा नहीं है। राग-द्वेष स्वयं धर्म नहीं है, यह बात सच है, किन्तु भूमिकायोग्य राग-द्वेष होने पर भी सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानरूप धर्म हो सकता है। राग को धर्म माने, तब तो श्रद्धा-ज्ञान भी मिथ्या ही हैं, परन्तु रागरहित ज्ञानस्वभाव को जानकर उसकी श्रद्धा हुई हो और राग सर्वथा दूर न हुआ हो तो उससे कहीं श्रद्धा-ज्ञान मिथ्या नहीं हो जाते। और वहाँ राग-द्वेषरूप अधर्म है, इसलिये सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान में अपूर्णता है—ऐसा भी नहीं है; राग-द्वेष होने पर भी पूर्ण निर्मल

क्षायिकश्रद्धा भी होती है, क्योंकि श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र आदि अनंतगुण हैं, वे सर्वथा अभेद नहीं हैं। पूर्ण की श्रद्धा होने के पश्चात् पूर्णदशा प्रगट होने में समय लगता है, परन्तु पूर्णता प्रगट होने का स्वभाव प्रत्यक्ष है, वह प्रतीति में प्रथम आ गया है; इसलिये अल्पकाल में पूर्णता प्रगट हुए बिना नहीं रहेगी।

आत्मा का स्वभाव स्वयं अपने स्वानुभूति से ज्ञात होने योग्य है; इसलिये स्वयं अपने को जान सकता है; वह स्वानुभूति इन्द्रियों से और राग से पार है। ऐसी स्वानुभूति ही मुक्ति का मार्ग है; उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों का समावेश हो जाता है।

[वीर संवत् २४७६ प्रथम अषाढ़ शुक्ला १०, श्री समयसार कलश १ पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से]

पर्यूषण पर्व

भाद्रपद शुक्ला पंचमी से लेकर चतुर्दशी तक पर्यूषण पर्व सोनगढ़ में अत्यन्त भक्ति एवं उत्साहपूर्वक मनाया जायेगा। इन दिनों उत्तमक्षमादि दस धर्मों पर पूज्य गुरुदेव के अपूर्व आध्यात्मिक प्रवचन होंगे।

ग्राहकों से.....

कृपया पत्र-व्यवहार करते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य ही लिखें। पत्र में ग्राहक नम्बर न होने से आपकी शिकायत दूर करने में कठिनाई आती है।

—व्यवस्थापक

'समयसार की टीका'

[श्रोताओं का कर्तव्य]

(वीर सं० २४७६, प्रथम अषाढ़ कृष्णा २ : समयसार कलश ३ पर पूज्य स्वामीजी का प्रवचन)

श्री अमृतचंद्राचार्यदेव कहते हैं कि मैं 'समयसार' की टीका करता हूँ; समयसार अर्थात् शुद्ध आत्मा; उसका वर्णन करने का मेरा हेतु है; इसलिये इस टीका का ध्येय तो शुद्ध आत्मा ही है। भले ही बीच में विकार का वर्णन आयेगा, परन्तु मेरा प्रयोजन तो उस विकार से भिन्न शुद्ध आत्मा बतलाना ही है। विकार को हेयरूप बतलाने के लिये उसका वर्णन आयेगा और शुद्ध आत्मा को उपादेयरूप बतलाने के लिये उसका वर्णन आयेगा। टीका करते हुए मेरा लक्ष विकार पर नहीं परन्तु शुद्ध आत्मा पर ही है। टीका द्वारा मैं शुद्ध आत्मा का स्वरूप समझाना चाहता हूँ! इसलिये समयसार का श्रवण करनेवाले श्रोताओं का भी वही लक्ष होना चाहिए। शुभभाव को ही प्रयोजन मानकर रुक जाये तो उसने समयसार का श्रवण किया नहीं कहा जा सकता। विकाररहित ज्ञायक शुद्ध आत्मा है, वह बतलाने का प्रयोजन है; इसलिये श्रोताओं को भी वही प्रयोजन रखकर श्रवण करना चाहिए। आचार्यदेव कहते हैं कि तू सिद्ध है, तेरे आत्मा में हम सिद्धत्व की स्थापना करते हैं; अपने सिद्धस्वभाव के लक्ष से श्रवण करना। बीच में विकल्प आये, उस विकल्प या निमित्त पर लक्ष का जोर मत देना, लक्ष का जोर तो शुद्ध आत्मा पर ही रखना। मेरा आत्मा विकाररहित शुद्ध ज्ञाता है, उसी पर मेरा लक्ष है, और श्रोताओं को इस टीका द्वारा मैं उसी का लक्ष कराना चाहता हूँ; इसलिये श्रोताओं को भी अपना आत्मा विकाररहित है—ऐसे स्वभाव के लक्ष से सुनना चाहिए। इसप्रकार आचार्यदेव विकार के अंश की दृष्टि छुड़ाकर शुद्धात्मा की रुचि कराते हैं। शास्त्र के शब्दों पर या उसके लक्ष से होनेवाले विकल्प पर रुचि का जोर न देकर, शास्त्र के वाच्यभूत शुद्ध आत्मस्वभाव की रुचि करके उसका अनुभव करने को आचार्यदेव कहते हैं।

मैं समयसार की टीका करता हूँ, इसलिये वास्तव में तो टीका के वाच्यभूत शुद्धात्मा का मंथन करता हूँ; उस शुद्धात्मा के मंथन से मेरी परिणति निर्मल-निर्मल होती जाती है। और जो श्रोताजन ऐसे शुद्धात्मा को स्वानुभव से समझेंगे उनके भी मोह का क्षय होकर परिणति निर्मल होगी।

भगवान श्री कुंदकुंद-कहान जैन शास्त्रमाला के

हिन्दी-प्रकाशन

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये जिज्ञासु निम्नलिखित पुस्तकों की स्वाध्याय अवश्य करें !

समयसार प्रवचन – भाग १	६–०–०
समयसार प्रवचन – भाग २	५–०–०
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें	१–६–०
दसलक्षणधर्म	०–१२–०
सम्यग्दर्शन	२–८–०
भेदविज्ञानसार	२–०–०
मूल में भूल	०–१२–०
मुक्ति का मार्ग	०–१०–०
आत्मधर्म की वार्षिक फाइलें	३–१२–०

उपरोक्त पुस्तकों में ''सम्यग्दर्शन'' नाम की पुस्तक अभी प्रगट हुई है, जो प्रत्येक जिज्ञासु को अवश्य पढ़ने योग्य है।

(डाक व्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

: मुद्रक-प्रकाशक :

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये

जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आंकड़िया